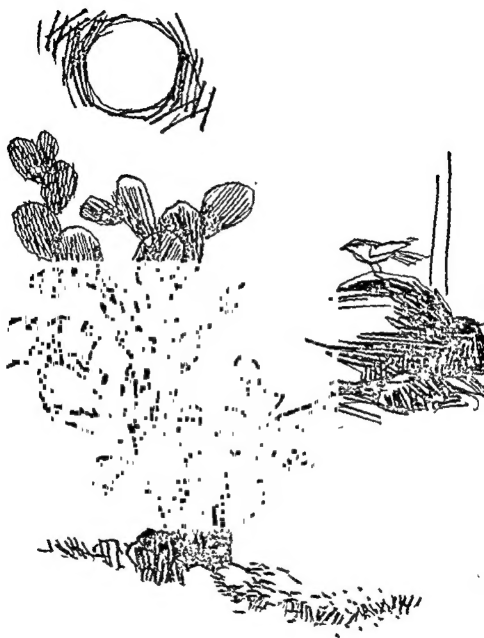
देखना, एक दिन



लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

देखना एक दिन

श्रीनरेश मेहता



लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित
•
कापीराइट
श्रीनरेश मेहता
•
आवरण : पुष्पकण मुखर्जी
•
प्रथम संस्करण : १९८०
•
नीलराज प्रेस
३३८/३८८ ए, शाहगंज
इलाहाबाद-३ द्वारा मुद्रित

मूल्य : ४५.००

बहन गीता पंडित
तथा श्रीभवानीशंकर पंडित को।

शीर्षबन्ध

'उत्सवा, 'अरण्या' आदि काव्य-संकलनों तथा 'महाप्रस्थान', 'प्रवाद-पर्व' आदि प्रबन्ध-काव्यों की भूमिकाओं में तथा अन्यत्र भी काव्य सम्बन्धी अपनी मान्यताओं की विस्तार से चर्चा करता रहा हूँ। वस्तुतः मेरे कवि की यही आधारभूत सृजनात्मक भूमि और मानसिकता है। इधर के काव्य-संकलनों— 'आखिर समुद्र से तात्पर्य', 'पिछले दिनों नंगे पैरों' या यह संकलन 'देखना, एक दिन' यदि पूर्व संकलनों से अलग लगते हैं, जो कि कुछ तो लगते ही हैं, तो यह स्वरूपगत या बानकगत ही ज्यादा होगा। मैं किसी ऊर्ध्व से नीचे आकर अब धरती के ज्यादा निकट हुआ हूँ या लग रहा हूँ, ऐसा मानना वास्तविक न होगा। वैसे इस भ्रम का कारण 'अरण्या' संग्रह की 'अरण्यानी से वापसी' नामक कविता से हो सकता:है, लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैं पूर्व संकलनों के समय धरती पर नहीं था अथवा इधर के संकलनों में मैंने अपनी आधारभूत ऊर्ध्वता खोयी है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सृजनात्मकता मात्र के लिए इन दोनों सम्पुट स्थितियों का होना अनिवार्यता है; हाँ, प्रश्न केवल प्राथमिकता का ही हुआ करता है। यह ठीक है कि ऐसी प्राथमिकता के कारण कुछ अन्तर अवश्य दिखने लगता है परन्तु उसे सर्वथा यथार्थ नहीं माना जाना चाहिए। निश्चित ही इधर के इन संकलनों की प्राथमिकता पूर्व संकलनों से भिन्न है परन्तु तात्विक काव्य-मानसिकता, जीवन-दृष्टि आद्यन्त एक ही है। वैसे यह भी सच है कि इस प्रकार की प्राथमिकता के कारण कुछ तो अन्तर, गुणात्मक न भी सही लेकिन स्वरूपगत ही, आ तो जाता ही है, और कई बार लोगों की प्रियता-अप्रियता का यही कारण बन जाया करता है। चलिए, यह भी सही।

आशा है यदि प्राथमिकता की इस भिन्नता और बदलाव के कारण ही इधर की कविताओं का आस्वाद कुछ रुचिकर लगा हो तो यही कृपा क्या कम है।

नवरात्र
५ अक्तूबर '८८
उज्जैन

[signature]

अनुक्रम

देखना, एक दिन

सेतुहीनता

शायद सब नदियों पर
सम्भव नहीं होते
सेतु
बनाये जाने पर भी,
यदि होते
तो क्या हम-तुम ऐसे होते—
इस पार
उस पार ?

•

क्यों ?

दिन
कुछ खुल सा आया था उस दिन,
पर तुमने
आज गिरा ली उस पर चिलमन।



एक स्थिति

शायद दूसरा कोई शब्द नहीं हो सकता
यह कहने के सिवाय, कि
कितना रोमांचक लगता है
बल्कि, सर्वथा अभूतपूर्व—

जब अनायास
रात के सुनसान में
जंगल के बीच
आप
जिस किसी कारण से भी हों
और क्षितिज में
श्रावणी बादलों के पीछे
आरम्भिक पंक्ति सा
चन्द्रोदय
लिखा जा रहा लगता हो
और आपके तथा आकाश के बीच के
अकल्पनीय विराट खालीपन में
कहीं किसी व्यक्ति
छत या वृक्ष जैसी
किसी की कोई बाधा न हो
तो आकाश कैसा बड़ा सा लगता है
जैसे आकाश ही आकाश है।
और उसमें

ग्रामीण खुले स्वभाव वाली
भीगी श्रावणी बनी
जंगली हवा
आपके कपड़ों के साथ-साथ
आपके व्यक्तित्व से भी शैतानी कर रही हो,
तो उसे पकड़ने के लिए उठे
आपके हाथ
जब पास में खड़े व्यक्ति की उड़ती
नारी-भूषा
और ठंडी हवा में सिहराती देह का
अनायास स्पर्श कर उठें,
और आपका वह चौंकना
हठात् एक वाक्य बन ओठों पर आ जाए, कि
"यू फैसनेट मी"—
तो, पूरी पंक्ति में लिखा जा चुका
वह चन्द्रोदय
और सम्पूर्ण आकाश
वाक्य सुनते ठिठके नारी-नेत्र बन जाते हैं,
पर ऐसे
जैसे कह रहे हों—
इस वाक्य की कब से प्रतीक्षा थी।



पूछ देखना

दिया प्रकम्पित हाथ
मुझे
पर कहा कुछ नहीं,
केवल पलकें मूंद
उतरती चली गयी थीं
तुम
अपने में—
या मुझमें ?
एकान्त मिले
तो पूछ देखना
हाथ स्वयं ही कह देगा
किसमें उतरी थीं
उस दिन, उस जंगल में।



जन्म

घाटियों की जंघाएँ चीर
पर्वत प्रस्रवित करवा रहे हैं
पार्वती ।

सम्प्रेषण

टेबल के ऊपर
मैं काँटे से
लकीरें खींचते हुए बोलता रहा
जबकि तुम
टेबल के नीचे पैरों से
सुनती भी रहीं
और बोलती भी।



क्या किसी दिन ?

दिखना, होना नहीं होता
क्योंकि दिखना तो
कहीं भी हो सकता है
होता भी है,
पर होने को तो यहाँ ही होना होग न ?

प्रायः तो दिखती हो
पर क्या किसी दिन······



स्त्री

स्त्री
अपने एकान्त में ही
स्त्री होती है
बाकी समय
वह केवल सम्बन्ध होती है।

•

वैषम्य

तुम वहाँ
परिवार—
कहने को,
मैं
अकेला यहाँ—
सहने को।



पता नहीं

पावस सन्ध्या
देखी हमने साथ-साथ
औ' देखा हमने
काले मेघ भरा आकाश
जितना सम्भव था खिड़की से।
पर मेघों में
अभी शेष था
जाता सन्ध्यालोक।
भीगे पंखों वाली चिड़ियों सी
वह हवा पनीली
भिगो रही थी तुम्हें
मुझे भी।

मन तो हुआ
समेट लूं भुज में
औ' इस पावस-सन्ध्या को
पावस-ऋतु कर लूं,
पता नहीं
करता
तो तुम क्या करतीं, कहतीं।
फिर भी पावस-ऋतु सी

वह सन्ध्या
है टँकी हुई मुझमें
अशेष—
क्या तुममें भी ?



कई बार

टेबिल पर फैली
सवेरे की इस धूप में
कितना अकेला है
पीछे छूट गया
साक्ष्य देता
चाय का यह खाली कप, कि
वह अतिथि सी
इसी खिड़की को फ्रेम बना
रेम्ब्रां के एक चित्र सी बैठी थी ।
पत्तियों जैसे ओठों पर
चाय की
पतली, पारदर्शी
छोटी-छोटी भाप
उस मुख पर
कोमल सी उड़ती रही थी ।

कई बार
व्यक्ति से अधिक तो
वस्तुएँ और क्षण
अधिक सौभाग्यशाली होते हैं ।

•

विलयन ज्वार

तुमने
देखा तो होगा
कई बार चाँद—
देवदार की फुनगियों के ऊपर
या अपनी छत से ही,
पर कभी चाँद देखते हुए
अपनी अँगुलियों के माध्यम से
किन्हीं अन्य अँगुलियों में होने का सुख जाना है ?
अपनी देह की नदी को
किसी पुरुष के सागर में विलीन करना जाना है ?
पूर्णिमा बन
किसी सागर में ज्वार लाना जाना है ?



आना, पर आना

जैसे कल आयी थीं
अनायास,
क्या ऐसा कल
रोज-रोज नहीं सम्भव है ?
चलो, न सही रोज-रोज
तो कभी-कभी ही सही
पर ऐसा कल हो।

हर आज और परसों के बीच
हुआ करता है
कल—
ओ आगामी कल !
उस बीते कल जैसे ही तुम आना,
पर आना।



बाल्कनी

चाहता तो हूँ
वहाँ उस बाल्कनी में दिखे
यह
बनकर अकेला फूल
सद्यःस्नात !
पर प्रायः खड़ा दिखता है
बाल्कनी के पार का
अधूरा आकाश,
रेलिंगों पर झुका
कुहनी टिकाये
एक खालीपन ।

०

आज यदि

आज यदि हुआ होता
द्रौपदी का चीर हरण
तो
न तो दुर्योधन को ही निराशा होती
और न ही
दुःशासन की बाँहें थकतीं।
स्वयं द्रौपदी ही कहती—
अपनी पार्टी और नेता के लिए
चीर-हरण क्या
शील-हरण भी स्वीकार है।

निश्चित ही
तब महाभारत न हुआ होता
और कितने पहले लोकतंत्र भी स्थापित हो गया होता।

•

स्पर्श-माधुरी

हवा ने
चोरी से छुआ तो
पत्तों पर बैठी
सुकंठी धूप को था,
पर वृक्ष ने देख लिया
और पूरा वन खिलखिला उठा,
लेकिन क्यों ?



नदी और भाषा

वैसे तो
नदी है ही—
जंगलों में, पठारों में
मैदान की विस्तीर्णता में
बहते हुए।

नदी वह—
मुझमें भी है
बहते हुए भी
पर
नदी नहीं,
बनकर नदी की भाषा।

मेरी नदी का भाषा होना
मैदानों में बहती नदी
जैसा ही जरूरी है—
क्योंकि जंगलों को, पठारों को
मैदान की विस्तीर्णता को बताती है, कि—

यह जो
रूप-रस-गन्ध देता
तुममें प्रवाह है
नदी है वह।

इसलिए
नदी को भी चाहिए होती है
एक भाषा—
नदी जैसी ही प्रवाहिता ।

●

समझ

अपनी-अपनी समझ है—
भीगी घासों पर
धूप के पापड़ हो
वर्षा ने
सूखने के लिए फैला दिये।

•

अपना दर्द

क्या तुम जानती हो
दर्द मेरा
ओ हवा !
यदि कहूँ भी तो
समझ पाओगी
शाश्वत खड़े रहने का दर्द ?

पर—
क्या तुम भी जानते हो
दर्द मेरा
पेड़ !
यदि कहूँ भी तो
समझ पाओगे
दिग्-दिगन्त भटकने का दर्द ?

सबको
अपना दर्द ही दर्द लगता है।



भीगना धूप का

मैदान में
भीगी घास,
घास पर
फैली धूप ।
सूख रहीं
घासें
पर धूप जो
भीगी पड़ रही—
वो ?

•

उन्मुक्तता

बाँध लिया होता
भुज-बन्धन में यदि
तो निश्चित ही
मैं उन्मुक्त हो गया होता,
पर सौंप मुझे
आकाश मुक्तता
दे दी कैसी कारा—
हारा, हारा, हारा ।



स्थिति

वहाँ तुम सो रही होगी
निश्चिन्त
मेरी नींद,
यहाँ मैं जागना
अपलक
तुम्हारा जागरण।

•

विवशता

आँखें आ रही हैं
इधर
बाँहें जा रही हैं
उधर
(बल्कि जाना चाहती हैं)
पर मजबूरियाँ
ये दूरियाँ।

•

अनुनय

मैं
तुम्हारी आँख बन
भर आँख
तुमको चाहता हूँ
देखना।
कर न देना
तुम कहीं, ना
देखना।



अन्तर

तुम्हारी चिरौरियाँ करते हुए
वे तो
वहाँ पहुँचे,
मगर तुम—
उनके सामने रिरियाते हुए
क्या कहीं पहुँचे ?

•

सम्बन्ध

वे जितना-जितना
उड़ते जाते हैं
उतना-उतना
देश
रसातल जाता है।

•

ऐसा क्यों?

खुली आँखों
तुम
बन्द आँखों
देह।
चाहिए तो था—
खुली आँखों
देह
बन्द आँखों
तुम।

•

आयाम

पहाड़ी नदी जैसी
जो अकेली
जा रही है
चीड़-वन के बीच
जाने दो उसे,
उसकी यह असम्पृक्तता ही
इस दृश्य के एकान्त को
आयाम देती है।



परिणति

गंगा की विस्तीर्णता में
जाता हुआ
ऊँटों का काफ़िला
आखिरकार
चींटियों की रेखा बन
डूब रहा।

•

माँ

मैं नहीं जानता
क्योंकि नहीं देखा है कभी—
पर, जो भी
जहाँ भी लीपता होता है
गोबर के घर-आँगन,
जो भी
जहाँ भी प्रतिदिन दुआरे बनाता होता है
आटे-कुंकुम से अल्पना,
जो भी
जहाँ भी लोहे की कड़ाही में छौंकता होता है
मैथी की भाजी,
जो भी
जहाँ भी चिन्ता भरी आँखें लिये निहारता होता है
दूर तक का पथ—
वही,
हाँ, वही है माँ ! !

•

देखना, एक दिन

देखना—
एक दिन चुक जाएगा
यह सूर्य भी,
सूख जाएँगे सभी जल
एक दिन,
हवा
चाहे मातरिश्वा हो
नाम को भी नहीं होगी
एक दिन,
नहीं होगी अग्नि कोई
और कैसी ही,
और उस दिन
नहीं होगी मृत्तिका भी।

मगर ऐसा दिन
सामूहिक नहीं है भाई!
सबका है
लेकिन पृथक—
वह एक दिन,
हो रहा है घटित जो
प्रत्येक क्षण
प्रत्येक दिन—
वह एक दिन।



पुरुषार्थ

गये होंगे निश्चित ही
ये पाँव
ठाँव-कुठाँव
पर, क्या वह तेरी गली नहीं थी ?

देखे होंगे निश्चित ही
इन आँखों ने
रूप भरे हाट
पर, क्या वह तेरी बाट नहीं थी ?

किये होंगे निश्चित ही
इन हाथों ने
भले-बुरे कर्म
पर, क्या वह तेरी प्रेरणा नहीं थी ?

यदि ऐसा नहीं था,
सब कुछ मेरा ही था
तो फिर मुझे स्वीकार हैं
ये सब—
क्योंकि मेरे पुरुषार्थ हैं।

•

कहाँ हुआ ?

लिखा तो गया
पर, कहना कहाँ हुआ ?

किससे कहते—
तुम यदि होते
राह भले ही तपती होती
पर बातों के द्रुमदल-मृगजल कुछ तो होते
हाँ, नदियाँ थी दिखीं
मिलीं भी
पर, बहना कहाँ हुआ ?

किसे दिखाते—
कितने पैबन्दोंवाली थी अपनी कथरी
राग और वैराग्य बीच हम
होते गये विवश भरथरी
उतर गया भूषा सा जीवन
मन से, तन से
चलो बटोही ?
इस सराय में रहना कहाँ हुआ ?

●

वही है, वह

व्यथा में भी
जो गा रहा है
गाने दो उसे,
वही है
वह—
जो सबको ले जाएगा
उस पर्वत की ओर
जिसके शिखर पर
स्वयं को उत्सर्ग कर
केवल वही
सबकी ओर से
देखेगा सूर्य को।

देखना—
हर व्यथा के लिए
वह लाएगा माँगकर सूर्य से
प्रकाश की अलग-अलग डालियाँ।
और बाँट कर ज्योतियाँ
हो जाएगा
फिर से अनागारिक
नि:शेष।

उसे जाने दो
वही है
वह—
जो व्यथा गाते हुए
सूर्य की ओर बढ़ रहा है।



द्वार

द्वार है
हर दूरी एक द्वार।
यात्राएँ समाहिति के लिए
दूरियों के द्वार।
फिर चाहे वह यात्रा
पंखों की
पैरों की
पालों की
किसी की हो
दूरियों के द्वार पर द्वार खुलते ही जाते हैं।

यह खुलना ही
द्वारों का बन्द होना भी है।



विपर्यय

वर्षा में भीग कर
चित्र
बदरंग हो गया
और तुमने
दीवार पर से ही नहीं
मन पर से भी उसे उतार दिया—
यह मैं था।

वर्षा में भीग कर
कविता
कैसी रंगों नहायी फूल हो आयी
और मैंने
उसे वृन्त पर ही नहीं
अपने में भी धार लिया—
यह तुम थीं।



विषमता

तुम्हारे फेरते ही
आँख
सबने फेर ली है
आँख—
मेरे इस एकान्त ने भी ।



चिड़ियाँ

चिड़ियाँ क्या हैं—

उड़ते हुए शब्द हैं
बोलते हुए पेड़ हैं
आकाश में
उड़ती हुई पंक्तियाँ हैं।

वन की भाषा है—
जो शब्द-शब्द बन
उड़ती है
गाती है।
गाता हुआ वन
चिड़ियाँ है
तो चुपायी चिड़ियाँ ही तो वन है।

•

आत्मसमर्पण

स्वतः तो फूल को झरना ही था
पर यदि वह
सौंप देता अपनी सुगन्ध
किन्हीं अँगुलियों को
तो सब कुछ बीत जाने पर भी
वे अँगुलियाँ
जब भी लिखतीं
लिखती फूल ही ।

•

गन्ध

कमरे में गन्ध थी
गुलाब की,
पर फूल ने कहा—
केवल कल तक ही,
आज जो यह गन्ध है
वह मेरी नहीं
उस स्पर्श की
जिसने मेरे फूल को
तुमसें गुलाब कह टाँका था।

क्या तुम
उस स्पर्शकर्ता को नहीं जानतीं ?



प्रश्न

जब-जब भी बाँधना चाहा
जीवन को भाषा में
(तात्पर्य सत्य को)
वह हँसा—
तुम मुझे बाँधना चाहते हो
भाषा की मेड़ से,
सकोगे बाँध
बाढ़ को ?

अच्छा—
तुम इतना ही बता दो
वह कौन है
(या कौन-कौन हैं)
जिसे तुम बारम्बार
अपनी कविताओं में सम्बोधित करते हो,
क्या है उस सर्वनाम "तुम" की वास्तविक संज्ञा ?
नहीं बता सकते न ?
और चले हो
जीवन को भाषा में बाँधने
क्या नहीं है यह प्रवंचना ?
स्वत्त्व पर से कवच-कुण्डल
चीर कर उतारने जैसा है

भाषा में जीवन को बांधना—
(तात्पर्य सत्य को)।

बन सकते हो
ऐसे निर्भय या निर्विकार ?

•

सम्भ्रम

उस दिन
चन्द्रोदय की साक्षी में
उड़ती जंगली हवाओं के बीच
हमारी गुँथी अँगुलियों में
कैसे एक राग-फूल ने जन्म लिया था।
देवताओं ने तो नहीं
पर आकाश
जरूर कुछ-कुछ पुष्प वर्षा करता लग रहा था।

पर
आज तुम
अपने थरथराते व्यक्तित्व से उपस्थित
ऐसी लग रही थीं
जैसे तुमने
अपनी अँगुलियों पर से ही नहीं
उस राग-स्पर्श को पोंछ डाला है
बल्कि वे सुगन्धित अँगुलियाँ ही
अपने स्वत्व पर से उतार दी हैं
और ऋतु-स्नान किये
नयी अँगुलियाँ धारे
सम्भ्रम में आधे खुले द्वार में
लिखी हुई खड़ी हो, जैसे
कोई अपरिचिता।



माया

खुली आंखों
देख पाता हूँ
तुम्हें भी
परिधान भी,
पर मूंदते ही आंख
न जाने परिधान क्या हो जाते ?

•

चित्र और उसकी दीवार

शाल वनों से होकर
जाने को वह चली गयी
पर कितना-कुछ है
छोड़ गयी
मुझमें अपने को।

मुकुर नहाते
सम्भव है
श्यामा अपने को
खोज रही हो वहाँ—
जलों पर रख उरोज का भार
बाँह से वृत्त बनाते।

लौटाना चाहूँ भी
यह
न्यारी सुगन्धवाला उसको उसकापन
पर लौटाऊँ कहाँ ?
नाम-गाम
कुछ पता-ठिकाना हो
तब तो लौटाऊँ

चलो
वह वहाँ अपने बिना रहेगी

रह ही लेगी,
यों भी अनाम बन रहना ही था
उसे,
भला तब
यहाँ-वहाँ में क्या अन्तर है ?
मुकुर नहाती
मुकुर देखती
श्याम कदम्बी रूपश्री का चित्र वहाँ है
और प्रतीक्षा करती
यह दीवार यहाँ है ।

•

आवार एग्रो

गर्मियां तो नहीं—
पर हां,
जाते हुए आमों की सुगन्धें
और इन सुगन्धों का
अपने साथ
कोयल के स्वरों का भी ले जाना
दर्द देता है।
दर्द ही क्यों—
बल्कि एक खालीपन
मुझे भी
आम्रवन को भी।
विश्वास करो आगामी वत्सर
प्रतीक्षा करता
यह आम्रवन तो मिलेगा ही
सम्भव है, मैं भी होऊँ ही।

क्या हमारी यह रिक्तता
भाषा नहीं है ?
जाते आमों की सुगन्धों से
विदा होते
कोयल के इन स्वरों से
निवेदन नहीं है
आम्रवन में

या मुझमें —
कि, भले ही
तपती गर्मियाँ चलकर ही आना
पर आना
ओ कोयल की पुकार !
अपने पर आमों की सुगन्धें खोंसे आना
पर आना
आना, आना ! !

•

सायं प्रतीति

किसी दिन भी तो ऐसा नहीं होता
हाँ, किसी दिन भी तो—
जब सन्ध्याकाश में
न लिखे गये हों
तोते
या कि कोई से भी
पाखियों के दल के दल,
पर क्यों ?
आकाश में
यहाँ-वहाँ
ऐसी उड़ती पंक्तियाँ
होना क्यों जरूरी हैं ?
यह कोई ग्रन्थ-लेखन तो नहीं है,
सायं-प्रतीति है,
इसे सम्पन्न होने दो
बिना लेखन के।
यदि किसी दिन
ये पंक्तियाँ न हों
तो क्या
शाम ही नहीं होगी
उस दिन ?



शाम, एक शब्द-चित्र

बड़े पाखियों से लेकर
छोटी गौरैयाएँ तक
चोंचों में थामे
बिछाती आ रही हैं
शाम, आकाश में।
हर पक्षी दल
अपने पेड़ों के आते ही
थमा देता है
आगे जाने वाले पाखियों को
शाम की यह जाजम
और स्वयं
अपने पेड़ों पर उतर
कैसा शोर करते
अपने बच्चों को
पेड़ों को सुनाने लगते हैं—
यह जाजम-पुराण।

और इस तरह
पूरे आकाश में
शाम की नीली जाजम बिछाते हुए
सूरज को ही सब कहते होते हैं—
"पीछे हटो", "पीछे हटो"—
आखिर पश्चिम से ज्यादा

कोई कहाँ
और कितना पीछे हट ही सकता है,
क्या गिर पड़े ?
मगर पाखियों को इससे क्या
उन्हें तो बस
आकाश में यहाँ से वहाँ तक
नीली जाजम बिछा
लौट जाना है
अपने-अपने बसेरों को—
इसलिए जल्दी पीछे हटो, पीछे हटो।

और हटते-हटते सूरज
आखिरकार अस्ताचल से नीचे गिर ही पड़ता है।
इससे क्या
जाजम तो पूरी बिछ गयी न ?
लो,
जाजम के बिछते ही
कूद-फाँद करने के लिए
बच्चों जैसे आने लगे हैं
तारे—
भला कोई जाजम क्या बिछाये !
होगा, हमें क्या
हमारा काम था बिछाना
अब यह आकाश जाने
और इसकी यह जाजम,
हमें क्या !!

•

टिटहरी

टिटहरी को कुछ ज्यादा ही शिकायत है
इन मैदानों से
वृक्षों से
सूखे तालों के किनारे
उदास बैठे बगुलों से
या चरागाहों में चरती इन बकरियों से,
कोई शिकायत है
लेकिन क्या ?
यह तो मैं ही नहीं
शायद ये सब भी नहीं जानते
जिनके बीच
कभी बैठे
कभी उड़ते हुए
लिखती ही रहती है
कांच की लकीर सा
झींखते हुए सा अपना चीखना
या फिर किसी को पुकारते हुए सा
पुकारना, पुकारना ।

सुबह होते ही शुरू हो जाती है टिटहरी—
बेचारी सुबह की धूप
अभी आयी-आयी ही होती है
पेड़ों पर

मैदानों पर
और टिटहरी का चीखना सुन
कान पक जाते हैं उसके।
तपती दोपहरियों की लू भी घबराती है,
पर मैं क्या करूँ ?
सुबह की धूप सा बीत नहीं सकता
या अपने पर से तपती दोपहरियां उतार
सुखद शामें भी तो नहीं हो सकता,
आधी रातों के सन्नाटों में
अँधेरों में,
आकाश के कपाटों पर सिर धुनते
इस टिटहरी के चीखने का
मैं क्या करूँ ?
मैं क्या करूँ ? !



वृक्ष और वह

वृक्ष कुछ ज्यादा ही सघन था
ऊँचा भी
इसलिए आमों को टोहने के लिए
कुछ ज्यादा ही देखना-बूझना पड़ा
इधर से भी
उधर से भी।
हाथों से संभव नहीं था
कुछ ज्यादा ही ऊँचे लटके थे
वे पत्तों की आड़ में !
ढेलों पर उतर आना ही था
सो उतरा—
पर पत्ते थे
वह भी हवा में झूमझूम पड़ते
बचाते रहे कैसे साफ
पास से सनसनाते गुजरते ढेले।
पसीने-पसीने वह
हारकर तब अपनी आँखें भी
उन्हीं आमों में टाँग
लौटा।
जहाँ पहले आमों ने डरते हुए उसे आते देखा था
अब आम और उसकी आँखें

वृक्ष और वह

वृक्ष कुछ ज्यादा ही सघन था
ऊँचा भी
इसलिए आमों को टोहने के लिए
कुछ ज्यादा ही देखना-बूझना पड़ा
इधर से भी
उधर से भी।
हाथों से संभव नहीं था
कुछ ज्यादा ही ऊँचे लटके थे
वे पत्तों की आड़ में !
ढेलों पर उतर आना ही था
सो उतरा—
पर पत्ते थे
वह भी हवा में झूमझूम पड़ते
बचाते रहे कैसे साफ
पास से सनसनाते गुजरते ढेले।
पसीने-पसीने वह
हारकर तब अपनी आँखें भी
उन्हीं आमों में टाँग
लौटा।
जहाँ पहले आमों ने डरते हुए उसे आते देखा था
अब आम और उसकी आँखें

घर की ओर

वह—
जिसकी पीठ हमारी ओर है
अपने घर की ओर मुँह किये जा रहा है
जाने दो उसे
अपने घर।

हमारी ओर उसकी पीठ—
ठीक ही तो है
मुँह यदि होता
तो भी, हमारे लिए वह
सिवाय एक अनाम व्यक्ति के
और हो ही क्या सकता था ?
पर अपने घर-परिवार के लिए तो
वह केवल मुँह नहीं
एक सम्भावनाओं वाली
ऐसी संज्ञा
जिसके साथ सम्बन्धों का इतिहास होगा
और होगी प्रतीक्षा करती
राग की
एक सम्पूर्ण भागवत-कथा।

तभी तो
वह—

हाथ में तैल की शीशी,
कन्धे की चादर में
बच्चों के लिए चुरमुरा
गुड़ या मिठाई
या अपनी मुनिया के लिए होगा
कोई खिलौना
और निश्चित ही होगी
बच्चों की माँ के लिए भी…
[जाने दो
उसकी इस व्यक्तिगत गोपनीयता की गाँठ
हमें नहीं खोलनी चाहिए।]

वह जिस उत्सुकता और तेजी से
चल रहा है
तुम्हें नहीं लगता कि
एक दिन में
वह पूरी पृथ्वी नाप सकता है
सूर्य की तरह ?
बशर्ते उस सिरे पर
सूर्य की ही तरह
उसका भी घर हो
बच्चे हों और…।

इसलिए घर जाते हुए व्यक्ति में
और सूर्य में
काफी-कुछ समानता है।
पुकारो नहीं—
उसे जाने दो
हमारी ओर पीठ होगी
तभी न घर की ओर उसका मुँह होगा !
सूर्य को पुकारा नहीं जाता
उसे जाने दिया जाता है।



कवच

मैं जानता हूँ तुम्हारा यह डर
जो कि स्वाभाविक ही है, कि
अगर तुम घर के बाहर पैर निकालोगे
तो कहीं वैराट्य का सामना न हो जाए,
तुम्हें भी कहीं
नदी की भाँति
निर्जन कान्तारों में चलना न पड़ जाए
या तुम्हें कहीं
क्षितिज पर खड़ा करके
कन्धों पर
एटलस की भाँति आकाश न रख दिया जाए।

ऐसी अनन्त सम्भावनाएँ हो सकती हैं
इसलिए मैं समझता हूँ
तुम्हारा यह डर, कि
निरापद नहीं है
घर से बाहर पैर निकालना
क्योंकि व्यक्ति का
इस प्रकार विराट हो जाना
किसको प्रिय लग सकता है ?
नदी की भाँति
जंगलों में अनाम भटकना
या आकाश उठाये एटलस बन जाना—

ये दुर्घटनाएँ तो हो सकती हैं
पर वैराट्य कैसे ?
निश्चित ही अन्तर तो है ही—
निरे आकाश को देखने
और बन्द खिड़की से सुरक्षित होकर
आकाश को देखने में।
व्यक्ति—
चिनार या पर्वत तो नहीं
जो भीगते हुए
या तपते हुए
आकाश उठाये खड़ा रहे।
नदी होने से अधिक मार्मिक तो
उसका वह चित्र होगा
जो कमरे में टँगा होगा।
मौसम—
केवल फूल ही तो नहीं होता,
वह माथे पर का पसीना भी होता है
और प्रायः फेफड़ों में भी जकड़ उठता है।

इसलिए
व्यक्ति और वैराट्य के बीच
कितनी जरूरी होती है
एक खिड़की—
क्योंकि वह सुरक्षा कवच है।



घर

घर तो ठीक है—
पर घर, आखिर क्या है ?

इतने बड़े आकाश
ढेर से प्रकाश
और प्रसन्न हवाओं की
उन्मुक्त विपुलता को—
दीवारों से घेर कर
एक छोटा सा आकाश
कमरों में टुकड़े-टुकड़े प्रकाश
और खिड़कियों से आती हवा बना लेना—
शायद
इसे ही तुम घर कहना चाहते हो न ?
ठीक है—
पर इसमें रहता कौन है ?
तुम ?
तुम इस घर में रहते हो ?
लेकिन कब ?

वर्षों से—
सुबह से लेकर देर रात तक
रोज ही तो
शहर के बदहवासपन में

उड़े चेहरे में मैंने तुम्हें देखा है।
और घर पर भी
तुम क्या सचमुच ही होते हो ?
अपनी देह को सोफे पर निढाल डाल
अपने अन्दर के मायालोक में भटकना
क्या घर में रहना है ?

तब फिर यह किसके लिए है ?
हाँ, यह घर किसके लिए है ?



स्मृतिजीव्या

चाहो तो कह सकते हो
जल को
कृतघ्न
या और कुछ भी
क्योंकि वह कितने ही
कैसे ही
अन्तरंग सान्निध्य तक को
एक क्षण के लिए भी
स्मृति बनाकर
अपने में नहीं रख सकता।
भले ही प्रतिबिम्ब के समय
वह कितना ही कोमल
या आत्मीय हो
पर उसकी वह माधवता भी
अविश्वसनीयता ही है।

पर शिला को तुम
जो भी कहो,
जैसी भी हो वह
आदिम
या कि कुरूप,
पर वह सान्निध्य को
वक्ष पर शैलचित्र बना

केवल धारती ही नहीं है
वहन तक करती है।
न हो वह
जल की भांति पारदर्शी सुषमित
माटी सनी अनगढ़ हो,
गड़ी हो
धरती के अन्तर में
कितने ही गहरे—
पर, शताब्दियों बाद भी
अनावृत्त होते ही
वह अपने उसी श्यामापन में
स्मृतियों के मुदने जैसे
शैलचित्रों के साथ
स्मृतिजीव्या ही मिलेगी।



आमेन

वह जो बिना पलक झपकाये
सूर्य से आँखें मिलाये हुए है
वही है
वह—
जिसने गुजरे जमानों में
हाथ की छड़ी उठा
सागर से रास्ता माँगा था,
और तब भी
लोगों ने आश्चर्य से देखा था, कि
सागर
एक कपड़े की तरह
बीच से चिर उठा था,
और रास्ता देते हुए
सारा पानी
दो दीवारों में बँट गया था।
आमेन ! !

देखना आज
बल्कि अभी
वह अंजीर के पेड़ की तरह खड़ा होगा
चोगा सम्हालते हुए
और अपनी तर्जनी से
उदय और अस्ताचल की दिशाओं के बीच

एक रेखा जैसी खींचकर
रोक देगा सारे प्रकाशों को।
लोग अभी यह भी देखेंगे, कि
वह अपने चोगे से
आकाश को पोंछ कर उजलाएगा
और बटखरों की तरह
प्रकाशों को पोंछ-पोंछ कर
सूर्य को लौटा देगा
ताकि सूर्य, सूर्य लगे
आमेन ! !

आज भी वह
भीड़ को भेड़ों के झुण्ड की तरह
पहाड़ के पदतल पर ही रोक
अकेले ही
गीत गाते हुए पहाड़ चढ़ेगा
और पुरोहितों की तरह
बलि-पशुओं के पवित्र खून को छिड़कने की भांति
वह अपनी अँगुलियाँ झटकारेगा
ताकि आकाश पवित्र हो जाए
और तब—
अपने दोनों हाथ
इस तरह फैलाएगा
गोया वे हाथ न होकर
उड़ने के लिए आमादा
बलिष्ठ डैने हों,
और तब हमेशा की तरह
एक आवाज सुनायी देगी—
ओ तू !
यह वही है
वह सेतु
जिससे होकर गुजरे जमानों में

आसमानी नियामतें
धरती पर उपस्थित हुई थीं
यह वही है
वह सेतु।
आमेन ! !

और लोग भी
हमेशा की तरह ताज्जुब में
और कह ही क्या सकेंगे
सिवाय "आमेन" के ?

•

क्या किसी दिन

एक दीवार है
हमारे और तुम्हारे बीच
शीशे की
जो हमें व्यक्ति से प्रतिदृश्य बनाती है।
इस शीशई तिलिस्म में
हम एक-दूसरे को दिखते जरूर हैं
पर विवश।
वैसे दिखना भी—
शीशे के आरपार जाना जरूर है,
मगर दृश्य का
व्यक्ति का नहीं।
और संलाप—
चिड़ियों की तरह
इस शीशे की दीवार पर चोंचें मार
हर बार घायल हो आता है,
वह नहीं जानता कि
दिखना, मार्ग नहीं होता।

पर क्या किसी दिन
किसी अनपेक्षित भूकम्प में
यह तिलिस्मी अभेद्यता ध्वस्त नहीं होगी ?
क्या किसी दिन
फिर उस असीम

उनमुक्त आकाश के नीचे
हंस-मिथुन से नहीं खड़े होंगे ?
जहां तुम्हारा स्पर्श
तुम्हारे नेत्रों में बजते पीलू राग का स्पर्श लगेगा ?
और हम अपने
केवल अपने आकाश की यात्रा पर होंगे ?
क्या किसी दिन नहीं ?
क्या किसी दिन भी नहीं ?

•

कैसे बता दूँ

यह मैं
तुम्हें कैसे बताऊँ कि वह क्या है
मुझमें ?
यदि कहूँ—
वह दुर्निवार सागरी विवशता है
जो कहने के बिन्दु पर
फन सी समग्र
फिर भी अपने अनकहेपन में
केवल घोप बन बिखर जाती है।
यह कैसी वर्चस्विता है
प्रतीतिहीन लौट जाने की ?
भाषा का यह अनकहापन वहन करना
केवल लौटना नहीं—
टूटना है, टूटना है
टूटते चले जाना है सागर-स्वत्त्व का।

यह मैं
तुम्हें कैसे बता दूँ कि वह क्या है
मुझमें ?
यदि कहूँ—
वह अनिर्वचनीय पर्वत होने की विवशता है
जो कहने के शिखर पर
धुरी सी समग्र

फिर भी अपनी अद्वितीयता में
केवल मौन हो जड़ा जाती है।
यह कैसी तपस्विता है
निपट नितान्त हो खड़े होने की
जहाँ स्वयं भाषा बन
अपना अनकहापन वहन करना
केवल होना नहीं
होते हुए टूटना है, टूटना है
टूटते चले जाना है पर्वत-स्वत्व का।

●

हमारे बीच

अन्तर तो रहेगा ही
हमारे बीच—

क्योंकि, जहाँ तुम खड़े हो
वह मुहाना है
नदी का,
और जहाँ मैं हूँ
नदी का उत्स है
वह।

तुम तक पहुँचने तक
वह समाप्त ही नही कर चुकी है
अपनी सारी यात्रा,
बल्कि सम्भावनाएँ भी।
वस्तुतः सौंप देने के बिन्दु पर
सागर की विपुलता के सामने
वह केवल थरथराता
विवश
एक प्रवाह भर है
शेष।
किन्तु जहाँ मैं हूँ—
एक सम्पूर्ण नदी
अपनी अकलंकता में

निरन्तर जन्म ले रही होती है।
एक प्रदीर्घ यात्रा की सम्भावना में
द्रोणियों की अतलता में भी
कूद जाने को आकुल
प्रसन्न प्रपात है,
तभी तो
पर्वत की देवदारुओं वाली भव्यता भी
इस हठी
कृतकर्मा को रोक पाने में
असमर्थ !

वही अन्तर रहेगा हमारे बीच—
जो आरम्भ और समाप्ति के
विपरीत छोरों पर खड़े होकर
किसी सर्जना को
जन्मते
और पर्यवसित होते देखने में होता है,
इसलिए अन्तर तो रहेगा ही
हमारे बीच।

•

दाता

प्रार्थना है नदी का एकान्त—
नहीं है
मात्र निजता
या कि कोई आत्मरति
यह नदी की प्रार्थना।
पर्वत और सागर बीच की
उसकी यात्रा
क्या विस्तृति नहीं है
स्वत्व की ?
या कि, चलना वन-पथों पर
जलों को लेकर
प्रार्थना करता एकान्त लिखना नहीं है ?

प्रार्थना है नदी का एकान्त—
जो उसे
पर्वत से बनाता है नदी
और देता है
एक पवित्रता
(अश्रु विगलित नहीं)
बल्कि, देता है
एक संकल्प—
सर्वथा उत्सर्गता का।
तभी तो

नदी देती है,
दे पाती है सहजता से
जलों को अपने,
जिन्हें वह
करती तो है बूंद-बूंद अर्जित
पर देते समय
कैसी समग्र
कितनी विपुला है।
देना
धर्म है नदी का
फिर चाहे
वे तपते मैदान हों
या कि हो लील जाने वाली
सागर की खारी विशालता।

नदी तो
देकर ही पूर्ण होती है
क्योंकि वह दाता है।



वह

मैंने उससे
अपने व्यक्तित्व पर से
संख्या और भय पोंछ डालने के लिए कहा
ताकि वह व्यक्ति और निर्भय बन सके।

उसके ऐसा करते ही
अभी मैं उससे बैठने का आग्रह करना ही चाहता था, कि
वह प्रत्यंचतवत् तना
और लौट जाने को उद्यत् दिखा
जैसे आधे आकाश से लौटकर
पुनः प्रत्यूष से यात्रा आरम्भ करने को उद्यत्
सूर्य-संकल्प हो।

मैं आश्वस्त था
अब वह पुनः भीड़ में संख्या बन कर
विलीन नहीं होगा
क्योंकि वह निर्भय हो चुका था।
अब वह कैसे ही अन्धकार के विरुद्ध
खड़ी हो सकने वाली
तेजस्विता था।

•

अलगूँजा

यह जो वन में
दबी-दबी सी घास-गन्ध है
भीगी युवा-देह की कैसी काम-गन्ध है—
वर्षा की।

ये जो वन में
खिले पड़ रहे घास-फूल हैं
भैरोगढ़ छापेवाले मालव-दुकूल हैं—
वर्षा के।

यह जो वन में
लहरें लेता घास-दृश्य है
जल मत हो, पर सागर के जैसा अवश्य है—
वर्षा का।

तब वन क्या है ?
नदियों में बजता पन्ने का अलगूँजा—
वर्षा का

•

धूप

क्या तुम
धूप को उसी तरह सहज
नहीं ले सकते
जिस तरह
पेड़, धूप को लेते हैं, कि
धूप है—
हुआ करे
पेड़ भी तो हैं;
रहे वह
पर, धूप बन कर ही।
पर तुम्हारे लिए तो
वह—
धूप से ज्यादा
एक कविता है
इसलिए एक सिरदर्द है।
तब भला
तुम्हारा यह सिरदर्द
तुम नहीं भोगोगे
तो क्या
पेड़ ?



व्याकरण

यदि तुम
पेड़ को पेड़ नहीं भी कहते
तो भी—
न तो वह पहाड़ ही हो जाता
और न ही
छाया देने के अपने धर्म से च्युत होता।
वस्तुतः तुम्हारी
इस नाम-आग्रही भाषा से भी बड़ी है
सृष्टि की वह भाषा
जो व्याकरण है,
और जो
सारी चीजों को उन्हें उनका धर्म देता है
नाम नहीं;
जबकि तुम्हारी भाषा
उन्हें नाम देती है
धर्म नहीं।

●

उत्सव

तुमने
वृक्ष में लिखे तो नेत्र ही थे
पर फूल खिले :
हाँ,
वृक्ष ने भी तुम्हें सौंपे तो फूल ही थे
पर नेत्र बने।
वन में
यह कैसा नेत्रोत्सव है
जिसकी तुम सुगन्ध हो।



मौन

वैसे रखा रहने दो
हमारे बीच
यह मौन—
न हो भाषा, फूल तो है।
यही क्या कम है
एक सुगन्ध
भाषा बनी
हममें मौन है।

•

कौन

दरवाजा खड़का
पूछा—
—कौन ?
दरवाजा पुनः खड़का—
—मैं
और कौन ?

देखा—
भीतर आने को आतुर
हवा थी
और कौन ?



इकतारा

स्वर मेरा
पर राग तुम्हारा,
कविता मेरी
पर भाव तुम्हारा,
इसी तरह
हम साथ रहेंगे
क्योंकि रहे हैं—
हाथ तुम्हारे में इकतारा।

•

मुद्रा

ऐसा ठस्का
सबके बस का
नहीं, कि जिसमें
कमर और कूल्हे झटका लें
जैसे पाँवों में काँटा हो कसका।
गो, यह ठीक नहीं
पर किसी-किसी को लग जाता है
सिर्फ देह बन जाने की
इस मुद्रा का चस्का।

वैसे, यह केवल कविता है
आप न समझें इसको कोई मस्का।



उपस्थिति

अभी जब तुम यहाँ आयीं
लगा—
अपरिचय के कपाटों को खोल,
अपने बैंगनी फूलों के साथ
उपस्थित है
कचनार कोई।

फूल लिखते हुए
जैसे वृक्ष बोलता है
तुमने अपना तापस परिचय दिया
लगा, स्तवक है,
हमें देखती हुई
एक सुगन्ध बनी रही
जब तक तुम रहीं।
आकुलता—
बार-बार सिर ढँकते
हाथ सी
अपने को अनुपस्थित करने की चेष्टा में
मौन रही।

हर आना
अपने में लिये होता ही है
लौट जाना।

तुम्हारे लौट जाने के बाद
लगा—
पता नहीं
सुगन्ध देते व्यक्तित्व को
वनस्पतिशास्त्र ने
किस वृक्ष या वनस्पति की संज्ञा दी है
विशेषकर तब
जब यह
तापस भूमि पर खड़ा
अनासक्त सुगन्ध देता
रागमय वृक्ष हो।



परामर्श

पुष्प-भाया नैनों में,
पर आ रही सुगन्ध
इन चीनांशुक ओट किये सैनों में,
हरसिंगार मत गूंथो
इन पतले ओठों के
गिरे-गिरे बैनों में।

•

सुझाव

वह सीखचों में स्वतंत्र है
और तुम खुले में कैद।
तुम उसे कैद
और खुद को स्वतंत्र देखना चाहते रहे हो न ?
तो क्यों नहीं
उसे सीखचों के बाहर
खुले में कैद हो जाने देते
और तुम सीखचों में स्वतंत्र ?

●

● नेल्सन मंडेला के प्रति

संज्ञा से सर्वनाम

अच्छा हुआ मंडेला !
जो तुमने भीख लेने से इंकार कर दिया—
जन्म-दिन पर मात्र छह घण्टों के लिए
पत्नी और परिवार से मुलाकात ।

यदि तुम स्वीकार लेते, तो
इतिहास का सारा प्रयोजन ही झुठला जाता
और तुम व्यक्ति बन जाते,
और कैसा ही व्यक्ति
कभी न कभी टूट ही जाता है
जबकि इतिहास
अप्रतिहत, अपराजेय होता है ।

माना कि
प्रत्येक के जीवन में
एक प्रिया
एक परिवार होता है ।
प्रत्येक आँख
अपने को प्रतिआँख में पढ़ना चाहती है,
प्रत्येक बाँह
अपने को प्रतिबाँह में गुंथा देखना चाहती है,
प्रत्येक अधर
अपने को प्रतिअधर पर समर्पित देखना चाहते हैं,

ऐसी सारी प्यास
ललक
निश्चित ही सहज
नैसर्गिक और मानवीय होती है।
यह सब तुम्हारे लिए भी
श्रीमती मंडेला के लिए भी
सहज, नैसर्गिक और मानवीय है
पर मंडेला !
इतिहास जब
अपनी अभिव्यक्ति के लिए
किसी व्यक्ति को चुनता है
तो वह सबसे पहले
उससे उसका व्यक्ति ले लेता है
ताकि वह
संज्ञा से सर्वनाम हो जाए।
इसीलिए अब तुम
घर-परिवार की संज्ञा नहीं हो मंडेला !

सारी मानवता, देश और काल के
सर्वनाम हो
सिर्फ सर्वनाम—
जो दुनिया की तमाम आँखों
बाँहों और अधरों पर
सुलग रहे हो
गा रहे हो
चीख रहे हो—
स्वतंत्रता ! !

•

• नेल्सन मंडेला केप्रति

अग्निबीज

वह व्यक्ति से बन गया है
एक मुट्ठी—
नहीं
इन छब्बीस वर्षों में
पूरी दुनिया में
इस अग्निबीज से उत्पन्न
उठ खड़े हुए हैं
मुट्ठियों के जंगल ही जंगल।
अफ्रीका की जीभ जैसे
उस धरती के टुकड़े पर खड़े
तुम—
घिर गये हो
इस अकेली मुट्ठी के
मुट्ठियों के जंगलों से।
ये जंगल
सरकारी पालतू अभयारण्य नहीं हैं।
ये जंगल
सिर्फ जंगल हैं
जिनमें इतिहास दहाड़ रहा है।
दहाड़—
चाहे वह शेर की हो
या इतिहास की
उसका मतलब ही होता है

काली कविता

दुनिया की तमाम भाषाओं में
लिखी जा रही है
सिर्फ एक कविता
जिसका शीर्षक है—
काली कविता ! !

तुमसे ही नहीं
हमेशा से
दुनिया की तमाम सरकारें
व्यक्ति से नहीं
उसकी कविता से डरती आयी हैं
क्योंकि कविता हो जाने का मतलब होता है
ईश्वर हो जाना ।

ओ दक्षिण अफ्रीका की काली कविता !
तुम व्यक्ति से बन गये हो
एक कविता
जिसके शब्द
दुनिया के तमाम लोग हैं
और आज की पूरी धरती
मुट्ठियाँ कसे

बोलते हुए शब्दों से भर उठी है।
दुनिया की कोई भी व्यवस्था
आज तक नहीं ईजाद कर सकी है
कोई जेल
जो कविता के लिए हो।

ओ दक्षिण अफ्रीका की काली कविता !
स्वतंत्रताएँ
हमेशा सीखचों में ही जन्म लेती हैं
और तुमसे बड़ी और कौनसी स्वतंत्रता है
जो हर दिन जेल में जन्म ले रही है।
तुम यदि काले हो
जो कि हो—
तो सारी मनुष्यता का वर्ण भी काला है,
कोढ़वाली गोरी चमड़ी से
कहीं खूबसूरत है
अवतारों वाला यह आबनूसी कालापन।
तुम यदि जेल में हो
जो कि हो—
तो दुनिया की तमाम स्वतंत्रताएँ जेल में ही हैं,
नपुंसक गुलाम आजादी से
कहीं मूल्यवान है
तेजस्वी बन्दी स्वतंत्रता।

ओ दक्षिण अफ्रीका की काली कविता !
छब्बीस वर्ष ही नहीं
छब्बीस हजार वर्ष भी तुम नहीं मरोगी
क्योंकि जेल में कविता की मृत्यु
ईश्वर की मृत्यु होगी
और ईश्वर कभी नहीं मरता
क्योंकि

वह भी विचार है
कविता की ही तरह।



● नेल्सन मंडेला के प्रति



श्रीनरेश मेहता, भारतीय काव्य, उपन्यास और चिन्तन के पर्याय और प्रतीक बन चुके हैं। भाषा, कथ्य और शिल्प के क्षेत्र में भी इनका अवदान अप्रतिम है।

स्वतंत्रता-संग्राम, कम्यूनिस्ट पार्टी, बौद्ध-चीवर, सेना तथा राजकीय सेवा के विभिन्न अनुभवों से गुजरने के बाद पैंतीस वर्षों के स्वतन्त्र लेखन के अनुभवों ने इन्हें संकल्प और तपस्विता दी, फिर भी लेखकीय गरिमा और स्वत्त्व की यथासंभव रक्षा ही की। प्रभूत प्रणयन के बावजूद किसी भी क्षेत्र में लेखन के स्तर में कोई समझौता नहीं किया।

शाजापुर, मालवा में १५ फरवरी १६२२ को जन्मे नरेश जी का अधिकांश जीवन प्रयाग में बीता जहाँ वह गत १५ अगस्त '५६ से स्थायी रूप से रह रहे हैं। आजकल सन् '८५ से प्रेमचंद सृजनपीठ, उज्जैन में निदेशक के मानद-पद पर कार्यरत हैं।

सन् '७२ में म० प्र० शासन द्वारा सम्मान, सारस्वत-सम्मान, शिखर-सम्मान, संस्थान-सम्मान, मंगला प्रसाद पारितोषिक के बाद सन् '८८-८६ के साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित।